

“गोविन्द मिश्र के कथा साहित्य में सांस्कृतिक चेतना”

छोटूराम रैगर

शोधार्थी, हिन्दी विभाग

मोहनलाल सुखाड़िया विश्वविद्यालय,

उदयपुर (राज.)

सार : किसी देश, समाज या समुदाय के जनजीवन में व्याप्त गुणों एवं विशिष्टताओं के समग्र रूप का नाम ही संस्कृति है जो उनके व्यवहार, रहन-सहन, नृत्य, गायन, साहित्य एवं कला आदि में स्पष्टतः परिलक्षित होती है। संस्कृति जीवन की नियामक शक्ति है। वह जीवन की पवित्र आत्मा है, जिसका सजुन देश-काल और परिस्थिति के अनुसार समाज के क्रिया-व्यापार से ही से सम्भव है। जीवन को संस्कारित करना इसका स्वभाव है। मूल्य रचना का सम्बन्ध भी इसी संस्कृति से है। संस्कृति के निर्माण में लोक की भूमिका, उसका श्रम, उसका जीवन केन्द्र होता है, व्यक्ति संस्कृति की धारा में शामिल होकर सुसंस्कृत हो जाता है और उस संस्कृति के निर्माण में अपना भी योगदान दे सकता है। संस्कृति का एक वर्गीय स्वरूप भी होता है, लेकिन तब हम विभिन्न संस्कृतियों के अन्तर्सम्बन्धों को स्वीकार नहीं कर पायेंगे, इसलिए कि आर्थिक सम्बन्धों की प्रक्रिया तो तेज होती है, लेकिन संस्कृति का निर्माण और संस्कृति का विनाश इतनी शीघ्रता से नहीं होता, इस अन्तराल में अन्य सांस्कृतिक परम्पराएँ भी उसमें जुड़ती जाती हैं।

किवर्ड - गोविन्द मिश्र, कथा साहित्य

1965 से लगातार और उत्तरोत्तर स्तरीय लेखन के लिए प्रसिद्ध गोविन्द मिश्र जिनकी समकालीन हिन्दी कथा-साहित्य में अपनी अलग पहचान है – एक ऐसी उपस्थिति जो एक सुविख्यात साहित्यकार का बोध कराती है, जिसकी वरीयताओं में लेखन ही सर्वोपरि हैं, जिसकी चिन्ताएँ समकालीन समाज से उठकर ‘पृथ्वी पर मनुष्य’ के रहने के सन्दर्भ तक जाती हैं और जिसका लेखन ए-फलक ‘लाल पीली ज़मीन’ के यथार्थ, ‘तुम्हारी रोशनी में’ की कोमलता और काव्यात्मकता, ‘धीरे समीरे’ की भारतीय परम्परा की खोज, ‘पाँच आँगनों वाला घर’ के इतिहास और अतीत के सन्दर्भ में आज के प्रश्नों की पड़ताल, ‘धूल पौधों पर’ में मध्यमवर्गीय नारी का आत्मसंघर्ष – इन्हें एक साथ समेटे हुए है।

संस्कृति के बारे में कहा भी गया है कि मानव जाति की पूर्ण संतुष्टि मात्र भौतिक संसाधनों एवं परिस्थितिजन्य क्रिया-कलापों में वांछित परिमार्जन करके ही संभव नहीं होती, क्योंकि तन के साथ मन और आत्मा भी तो है।

भौतिक प्रगति से उनका क्या सरोकार, ऐसी स्थिति में अतृप्त रहना स्वाभाविक ही है। अतः इनकी तृप्ति व संतुष्टि के लिए मनुष्य स्वयं का जो सर्वांगीण विकास उन्नयन करता है। उसका समग्र रूप ही संस्कृति कहलाता है।

साहित्य समाज का अंग है, जो भाषा की प्रकृति के लिए विषय को स्वरूप प्रदान करता है। साहित्य का सरोकार केवल पुस्तकीय रचना न होकर भाषा एवं सभ्यता के साथ-साथ मानवीय विचारों की प्रवृत्ति को वातावरण के साथ उचित रूप देना है। साहित्य में लेखक अपने मनोभावों को कुछ इस प्रकार से समायोजित करता है जिससे वह एक साहित्यिक अवधारणा बन सके। आम तौर पर भारतीय समाज में मातृसत्तात्मक संस्कृति को पितृसत्तात्मक मानकर सामाजिक हस्तांतरण का कार्य किया जाता है। यह कार्य वर्तमान भौतिकवाद की देन कहा जाये तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। वर्तमान समय में भौतिकवाद इस प्रकार से फैला है कि मानों वह सभ्यता और संस्कृति दोनों को ही विषैला कर

देगा। विष के इस प्रभाव से साहित्य और वातावरण दोनों ही अपनी दशा यथावत कायम नहीं रख पाते हैं। उनमें भी कुछ परिवर्तन अवश्य होता है। भारतीय संस्कृति में अनेक प्रकार की विविधता के कारण साहित्य में भी अनेक प्रकार की विविधताएँ देखने को मिलती हैं। जैसे – भाषायी विविधता, भौगोलिक विविधता, सांस्कृतिक विविधता आदि। इन विविधताओं के कारण ही रचनात्मक प्रवृत्ति एवं चिन्तन प्रवृत्ति आदि में भी विविधताएँ देखने को मिलती हैं, जो भारतीय समाज के साथ में साहित्य विघटन का भी एक मुख्य कारण बन जाता है।

भारतीय समाज में बालक की प्रथम पाठशाला उसका अपना परिवार माना जाता है। क्योंकि पारिवारिक विश्लेषण के आधार पर ही व्यक्ति यथार्थ को समझने का प्रयास करता है। पारिवारिक विसंगतियों के कारण ही बालकों में भी विसंगतियों उत्पन्न होती हैं। यही विसंगतियों परिवार, समाज और संस्कृति सभी को प्रभावित करती है। ये विसंगतियाँ जब एक लेखक के माध्यम से साहित्य में प्रविष्ट होती हैं तो साहित्य भी उसके प्रभाव से वंचित नहीं रह सकता है।

वर्तमान समय में भारतीय समाज में संयुक्त परिवारों के टूटने का एक और कारण है, वह है समयानुकूल परिवर्तन तथा भोग विलासिता का दौर समय के फेर में जब हम गहराई की ओर झाँकते हैं तो वहाँ हम आधुनिकता को पाते हैं। व्यक्ति अपने आधुनिकतावाद के इस दौर में परम्परावाद को पीछे छोड़कर आधुनिक भौतिक संस्कृति की चमक पर कुछ इस प्रकार से समर्पित हो जाता है जिससे वह न तो वातावरण को समझ पाता है और न ही पारम्परिक शब्दावली को क्योंकि आज कोई भी व्यक्ति परम्परावादी भूमिका में रहना पसन्द नहीं करता। गोविन्द मिश्र ने अपने उपन्यास 'पाँच आँगनों वाला घर' में आधुनिकतावाद के इस प्रभाव को बखूबी से हमारे सामने उभारा है –

“सामूहिक संस्कृति वाले संयुक्त परिवार उपभोक्तावादी पश्चिमी संस्कृति के प्रभाव से आत्मकेंद्रित व्यक्तिनिष्ठा में संकुचित होने लगे। मुंशी राधेलाल और माँ जोगेश्वरी द्वारा तिनका-तिनका जोड़कर बनाया गया 'पाँच आँगनों वाला घर' भी विभाजित हो गया। अनेक दीवारें उग आयीं। लबालब प्रेम से भरे तालाब

जैसा यह मुहल्लेनुमा घर तो टुकड़ों में बँटा ही लोगों की भावनाओं में भी गहरी दरारें पड़ गईं। राजन और रम्मो का विवाह इस घर का अंतिम सामूहिक उत्सव था।”¹

प्राचीन भारतीय समाज एवं संस्कृति में परोपकार को मानवता का सर्वोत्तम पूण्य धर्म माना गया था। परन्तु आधुनिकतावाद के इस दौर में व्यक्ति की पूण्य के प्रति कोई अभिलाषा नजर नहीं आती। गोविन्द मिश्र ने अपने उपन्यास 'पाँच आँगनों वाला घर' में परोपकार के सम्बन्ध में अपने विचार इस प्रकार व्यक्त किए, जहाँ राधेलाल कहता है कि, “अपने स्वार्थ से निकलकर हमें बड़ी बात से जुड़ना। आज के समय में देश के लिए मरने, खपने से बड़ी बात और कोई नहीं।”²

इस कथन से राधेलाल की मानवीय परोपकार भावना अवश्य देखी जा सकती है। परन्तु उदासीनता के इस दौर में नयी पीढ़ी में यह बात बिल्कुल भी नजर नहीं आती। नई पीढ़ी धीरे-धीरे अपने परम्परावादी विचारधारा को अपने में समायोजित नहीं कर पा रही है या भूल रही है – “मनुष्यों की तरह घर भी बीतते हैं, वे भी चलते हैं, समय के साथ सरकते हैं... भले ही धीरे-धीरे। कुछ समय बाद घर का कोई टुकड़ा कहीं-का-कहीं पहुँचा दिखता है, कहीं से टूटा कहीं जा मिला। घरों की शकलें बदल जाती हैं...कभी-कभी इतनी कि पहचान में नहीं आतीं। हम घरों को अपनी हदों में घेरने को बेचैन रहते हैं पर उनकी स्वाभाविक-गोकि धीमी चाल उस दिशा की ओर होती है जहाँ वे घेरों को तोड़, बाहर जमीन के खुले विस्तार में जा मिलें। इसलिए हर घर धीरे-धीरे खंडहर की तरफ सरकता होता है।”³

आधुनिकता के इस युग में मध्यम वर्गीय मनुष्य साहित्य में स्वयं को खोजता नजर आता है। अपने संघर्ष, अपनी वेदना तथा अपनी समस्याओं से झुंझता मानव स्वयं को साहित्य में पाने की इच्छा जरूर रखता है। परन्तु यह तलाश, तलाश ही रहती है। क्योंकि ऐसा माना जाता है कि मध्यमवर्गीय परिवार या मनुष्य उसी को अपनाता है, जहाँ उस पीढ़ी के जीवन मूल्य एवं सत्यता को व्यक्त किया गया हो।

“साहित्य जीवन का अलंकार नहीं बल्कि जीवन है और वह कलाकार के बल पर ही जीवन से रू-ब-रू होता है जिसे हम वर्तमान समय में जीते हैं, कलाकार उन्हें पुनः जीता है, सर्जन के क्षणों में तथा हम उस जीये

गये क्षण को पाठक बनकर पढ़ते समय एक बार फिर उन घटनाओं से रूबरू होकर जीते हैं।⁴

गोविन्द मिश्रजी ने अपने कथा लेखन के माध्यम से हमें जीवन, जीवन मूल्य, सत्यता एवं साहित्य भावना से भलीभाँति अवगत करवाया है। आधुनिकता के इस दौर में आदमी एवं औरत सभी इनकी रचनाओं में एक ही साँचे में ढले हुए नजर आते हैं। उनका अपना कोई बज्रूद नहीं है, वह तो केवल वातावरण के समायोजन पर विशेष बल देते रहते हैं। एक बालक जिस परिवेश में पलता-बढ़ता है, उसकी शिक्षा-दीक्षा होती है, वही तो उसके संस्कार माने जाते हैं। संस्कार रूपी धरा को सींचने का काम केवल उस बालक द्वारा व्यक्ति बनकर किया जाता है। यही संस्कार नवसृजित होकर आधुनिकता का रूप ले लेते हैं। गोविन्द मिश्र ने इस आधुनिक वर्ग की भाषा उसके संस्कार रहित जीवन की अनोखी दास्तां लिखी है—

“लोगों में कैसे एक-दूसरे के लिए प्रेम खत्म हो गया है ! पहले घर के बाहर मोहल्ला-पड़ोस के लिए भी प्रेम था, सबके दुख-पिरोते में शरीक होने का स्वभाव था, अब अपने बीवी-बच्चों के बाहर प्रेम महसूस ही नहीं किया जाता, सिर्फ औपचारिकताएँ निभाही जाती हैं। सिर्फ अपना-अपना ख्याल। पहले खुशी देने में थी, अब लेने पाने हथियाने में ढूँढी जाती है। जीवन अपनी लीक पर चलने की बजाय दूसरों की नकल हो गया है।”⁵

‘वह/अपना चेहरा’ उपन्यास में मिश्रजी ने महानगरीय संस्कृति का चित्रण किया। दफ्तरी माहौल में मिसेज आजवानी सबको हर तरह से खुश रखती है, महानगरों में एक कला का रूप धारण कर रही है। हर व्यक्ति अपना, निजी चेहरा छिपाने के लिए मुखौटा धारण करता है, अपनी आत्मीय संवेदना को छिपाता है।

‘उत्तरती हुई धूप’ उपन्यास में मध्यमवर्गीय युवा-युवतियों के बीच पनपती भावुकता, प्रेमिल स्मृतियों और अधूरे सपनों के प्रति आकर्षण में लिपटी नारी के स्वातंत्र्य, प्रेम और काम-संबंधों की पड़ताल है। अंत में लेखक सामाजिक दायित्व-बोध को ही स्वीकार करने की प्रेरणा देता है। इस प्रकार मिश्रजी ने इस उपन्यास में प्रेम संबंधों का यथार्थ चित्रण किया है। जिसके बारे में चन्द्रकान्त बांदिवडेकर का यह कथन उल्लेखनीय है—

“इस उपन्यास में यौन और प्रेम का ट्रीटमेंट एक भिन्न स्तर पर हुआ है। पहले हिस्से में नायक संतुलित, आत्मकेन्द्रित और किंचित जटिल मालुम पड़ता है — लड़की बहुत भावुक, कमजोर और स्वत्व समर्पिता लगती है। किन्तु आधी मंजिल तक पहुँचते हुए दश वर्षों का दाम्पत्य जीवन नायिका को आश्चर्य रूप से सर्द बना देता है।”⁶

भारतीय संस्कृति में प्रेम को वर्जित नहीं माना गया है। प्रेम सहज है। किशोर जीवन के प्रेम से लेकर युवावस्था तक के प्रेम का चित्रण गोविन्द मिश्रजी के कथा साहित्य में मिलता है किन्तु कहीं भी विकृत प्रेम की व्यंजना नहीं है। राधा और कृष्ण प्रेमी-प्रेमिका है और इनकी प्रतिमाएँ इनके मन्दिर पूरे भारत में मिल जाएँगे, किन्तु खेद है कि आज भारतीय समाज की खाप-पंचायतें प्रेमी-प्रेमिकाओं को कत्तल जैसी क्रूर और अमानवीय सजा दे रही है। इसी संदर्भ में गोविन्द मिश्र जी का यह कथन यहाँ दृष्टव्य है—

“इन दिनों सबसे अधिक जो चीज मुझे व्यथित करती है, वह है क्रूरता। प्रेमिका के अस्वीकार पर उसके चेहरे पर तेजाब फँक आना....वह भी तब जब वह मंडप में बैठी है, एक के द्वारा नहीं, कइयों के द्वारा सामूहिक बलात्कार, लड़की फिर भी बच गई तो मार डालना, लाश को भी क्षत-विक्षत करना, खाप पंचायतों द्वारा प्रेमियों का वध, उन्होंने अपने मन से विवाह किया तो बाप बहकाकर बेटी को घर बुलाता है और मार डालता है, भाई अपनी बहन और उसके प्रेमी को मार डालता है। जंग पहले भी होती थी बाकायदा घोषित होकर, आमने-सामने की। आज आपका दुश्मन कोई और है, आप मार किसी और को रहे हैं— दूर बैठे स्त्रियों, बच्चों को।”⁷

‘धीर समीरे’ उपन्यास में मिश्रजी ने उन सभी सराकारों की चर्चा की है जो आज के पदार्थिक संसार की सीमितता के बीच हाशिए की चीज मान लिए गये हैं। लेखक ने इन प्रश्नों का जिक्र किया है कि जो हमारे भीतर परम्परा की निरन्तरता के कारण जागे हुए तो हैं पर उन्हें बाहर ले आना अपने आधुनिक कहलाने की इच्छा के विरुद्ध जाना है। नंदकिशोर मितल के शब्दों में हम कह सकते हैं कि — “जीवन जीत का उन्माद नहीं। न ही वह कोई लक्ष्य या मंजिल पाने के लिए फौजी मार्च है। वह मानवीय संबंधों में संश्लिष्ट अनुभूतियों

का साक्षात् है, जो स्रष्टा को भी इस सृष्टि में अवतरित होने के लिए बाध्य कर देता है। वह पूर्ण भी किसी माँ का बेटा, किसी का सखा, किसी का प्रेमी बने बिना अपने को पूर्ण महसूस करने लगता है।⁸ 'धीर समीरे' का संसार हमारे पूर्ण होने के अहंकार की यांत्रिकता पर आघात कर, अनुभूतियों की गहराइयों के अनेक मानवीय प्रसंगों से हमारा साक्षात् कराता है।

'लाल-पीली जमीन' इस उपन्यास में मिश्रजी ने सम-सामयिक युवा वर्ग में व्याप्त हिंसा और कामकुण्डा के गहरे कारणों की खोज की है। लेखक ने उन ताकतों की पहचान करायी है जो आज के युवा वर्ग में बढ़ती हुई हिंसा के कारण हैं। ये ताकतें जातिवाद पर आधारित सामंतवादी ताकतें हैं, जिनकी गाँवों में बड़ी-बड़ी जमींदारियाँ हैं। और जो शहरों में अपनी प्रतिष्ठा बनाने के लिए हिंसात्मक शक्तियों को पालती है। जिनकी जरूरत अपनी राजनीति चलाने के लिए राजनेताओं को पड़ती है। आज का युवा हताश, निराश है। उसका भविष्य अंधकारमय है। मिश्रजी ने इस उपन्यास में खोखले, जर्जर होते, टूटते पारिवारिक संबंधों, निम्न मध्यवर्ग की लड़कियों की उदासीनता, अन्याय से जकड़ी निराशा और आत्महत्या की और बढ़ती जिंदगियों और शरीर की ताकत तथा दुस्साहस न बटोर पाने वाले लड़कों के गहन अवसाद, हताशा और जड़ता का प्रभावशाली चित्रण किया है। उपन्यास के नायक केशव की ऐसी ही स्थिति है, इस अकेलेपन से भागने के लिए केशव दूसरों से जुड़ता था, स्कूल से भी जुड़ता है, जैसे – "केशव के पास जब कुछ भी नहीं बचा था तब एकाएक उसके सामने स्कूल नया अर्थ लिए खड़ा था। कितने घरों से बने-टूटे थे... कुछ तो बनने के पहले ही टूट गये थे, जैसे गुब्बारा फूलते-फूलते ही फट जाए। ऐसे में वह कहाँ खड़ा हो, यही सबसे बड़ी समस्या थी शुरु में। उसके सामने समस्या जो रूप लेकर आती थी, वह यह थी कि किनके साथ उठे-बैठे, किनके साथ ऐसा रिश्ता जोड़े जो कभी टूटे नहीं। दोस्त करीब-करीब थे ही नहीं। घर ? दूसरे घर और रिश्तेदार ? वह भी नहीं...।"⁹

भारतीय संस्कृति विश्व की महान् संस्कृति है जो सार्वभौम आदर्शों से प्रेरित रही है। सत्य की खोज, मानव कल्याण की भावना, सौन्दर्य की अभिव्यक्ति इसका मुख्य ध्येय है। इसका अतीत मानव इतिहास का एक गौरवपूर्ण अध्याय है। प्राचीन काल में भारतीय संस्कृति

का प्रभाव संसार के अनेक देशों में फैला हुआ था। भारतीय संस्कृति पर आध्यात्मिकता की झलक स्पष्ट दिखाई देती है। भारतीय संस्कृति की आध्यात्मिक विशिष्टता के बारे में डॉ.बलदेव उपाध्याय ने ठीक ही कहा है – "किसी भी संस्कृति की श्रेष्ठता का मापक उसका आध्यात्मिक चिन्तन होता है। जिस संस्कृति के आध्यात्मिक विचार जितने अधिक और गहन होते हैं, वह संस्कृति इतिहास में उतना ही महत्वपूर्ण स्थान रखती है।"¹⁰

गोविन्द मिश्रजी के कथा साहित्य में भी भारतीय संस्कृति की महत्ता इस प्रकार प्रकट हुई है –

"यदि भारत का सभ्यता बोध और सांस्कृतिक परम्पराएँ आज भी मौजूद हैं, तो उसका मुख्य कारण वह केन्द्रीय आध्यात्मिक तत्त्व है जिसमें इतनी क्षमता और ऊर्जा थी कि इतिहास के निर्मम थपेड़ों के बावजूद वह समस्त प्रभावों को अपने भीतर समाहित कर सका। अंग्रेजी मार्क्सवादी इतिहासकार ई.पी.टाप्सन के शब्दों में : 'भारत सिर्फ महत्त्वपूर्ण नहीं, दुनिया का शायद सबसे महत्त्वपूर्ण देश है, जिस पर सारी दुनिया का भविष्य निर्भर करता है। भारतीय समाज में दुनिया के विभिन्न दिशाओं से आते प्रभाव एक दूसरे से मिलते हैं। पूर्व या पश्चिम का ऐसा कोई विचार नहीं, जो भारतीय मनीषा में क्रियाशील न हो। टाप्सन के इन शब्दों को पढ़ते हुए मैं सोचने लगा कि भारत में कितने मार्क्सवादी हैं जिनमें अपने देश के प्रति इस तरह के उद्गार प्रकट करने की ईमानदारी और विनम्रता हो।"¹¹

वैश्वीकरण के इस दौर में आज व्यक्ति की श्रेष्ठता का मानक उपभोक्तावादी वस्तुएँ और ब्राण्ड है। पश्चिमी संस्कृति के प्रभाव से हमारी भारतीय संस्कृति अपनी मूल अवधारणा से विलग होती जा रही है। हम जीवन को किसी भी शर्त पर जीना चाहते हैं। नैतिकता, उदारता, ईमानदारी, सच्चरिता पर अर्थ (सम्पत्ति) का साम्राज्य है। इसी कारण भारतीय समाज में मानवीय मूल्यों का पतन हो रहा है। भारतीय संस्कृति मुख्यतः त्याग की बात करती है। यहाँ संस्कारों को महत्ता प्रदान की गयी है। कोई भी राष्ट्र तब तक प्रगति नहीं कर सकता जब तक उस राष्ट्र के नागरिकों में चारित्रिक सुदृढ़ता न हो। इसी संदर्भ में विष्णु प्रभाकरजी भारतीय संस्कृति के बारे में कहते हैं – "संस्कृति मनुष्य की सृजनात्मक शक्तियों का वह पूंजीभूत स्वरूप

है। जो उसे पशुत्व से ऊपर उठाता है। उसकी चेतना और उसके व्यवहार को संस्कार देता है।¹²

हमारे भारतीय समाज में पारम्परिक रूढ़ियों व अंधविश्वासों पर विश्वास किया जाता है। यहाँ मनुष्य पर कोई विश्वास नहीं करता। जिसके कारण हमारी संस्कृति में मानवीय मूल्यों का हनन होता जा रहा है। मिश्रजी ने अपने उपन्यास 'तुम्हारी रोशनी में' इसी विचार को इस प्रकार प्रकट किया – "हमारे यहाँ आदमी पर भरोसा कम, ईश्वर पर ज्यादा, हर चीज ईश्वर पर टालना ... आत्मविश्वास शून्य के बराबर। इर्द-गिर्द उदासी, धुन्ध। इधर से उधर हिचकोले खाते फिरना और असमय में ही बूढ़े होकर मर जाना।"¹³

इस प्रकार सारांश रूप में हम कह सकते हैं कि गोविन्द मिश्रजी के कथा साहित्य में सांस्कृतिक चेतना की सशक्त अभिव्यक्ति हुई है। इन्होंने अपने लेखन में 'मानवीयता' को सर्वोच्चता प्रदान की है। एक व्यक्ति अपने समय, समाज को नहीं बदल सकता। गोविन्द मिश्रजी ने इसी मानवीय भावना को अपने वक्तव्य में इस प्रकार कहा – "मैं इतना तो कर सकता हूँ कि जो लोग मेरे पास या दूर... पृथ्वी पर इस वक्त चल रहे हैं – मेरे सहयात्री, उनके दुःखों में हिस्सेदारी करता चलूँ; वह लिखूँ, जो मुझे और उन्हें यह समय, यह जीवन झेलने की ताकत दे... कम से कम इतनी कि हमारा जीवन में, मनुष्य में विश्वास सब बना रहे!"¹⁴

सन्दर्भ –

1. संपा.चन्द्रकान्त बांदिवडेकर – गोविन्द मिश्र : सृजन के आयाम, वाणी प्रकाशन नई दिल्ली संस्करण , 2007. पृ.सं. 207
2. गोविन्द मिश्र – पाँच आँगनों वाला घर, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 2008,पृ. सं. 20
3. गोविन्द मिश्र – पाँच आँगनों वाला घर, वही – पृ. सं. 90
4. शशिकला राय – अक्षर पत्रिका, नई दिल्ली, संस्करण, 2010, पृ. सं. 82
5. गोविन्द मिश्र – पाँच आँगनों वाला घर, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 2008,पृ. सं. 94
6. संपा.चन्द्रकान्त बांदिवडेकर – गोविन्द मिश्र : सृजन के आयाम, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण , 2007. पृ. 82
7. हिन्दुस्तान न्यूज पेपर, गोविन्द मिश्र का वक्तव्य, रविवार 05 अक्टूबर 2014 पृ .09
8. संपा.चन्द्रकान्त बांदिवडेकर – गोविन्द मिश्र : सृजन के आयाम, वाणी प्रकाशन नई दिल्ली, संस्करण , 2007. पृ. 171
9. गोविन्द मिश्र – लाल पीली जमीन, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 2003,पृ. सं. 250
10. डॉ. प्रीति प्रभा गोयल – भारतीय संस्कृति ,राजस्थानी ग्रंथागार ,जोधपुर, प्रथम संस्करण ,पृ. सं. 10
11. गोविन्द मिश्र – सान्निध्य-साहित्यकार,वाणी प्रकाशन,नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 2003,पृ. सं. 69
12. डॉ. आशीष सिसोदिया – नव सृजन,अर्द्धवार्षिक पत्रिका, एपेक्स पब्लिशिंग हाऊस, उदयपुर, अंक-2 जुलाई-दिसम्बर 2014,पृ. सं.02
13. गोविन्द मिश्र – तुम्हारी रोशनी में, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 2010,पृ. सं. 14
14. हिन्दुस्तान न्यूज पेपर, गोविन्द मिश्र का वक्तव्य, रविवार 05 अक्टूबर 2014 पृ .09